

ज्ञान के निर्माण व उत्पादन पर शिक्षाशास्त्र का प्रभाव

रोहित धनकर

इस सत्र के लिए मुझे दिया गया मूल विषय बहुत पेचीदा था “ज्ञान के उत्पादन व कौशल विकास के संदर्भ में शिक्षाशास्त्र व रणनीति के मुद्दे”। एक छोटे व्याख्यान के लिहाज से मुझे यह विषय चुनौतीपूर्ण लगा। अतः मैं इसे संक्षिप्त करते हुए विषय को कुछ हद तक बदलकर- “ज्ञान के निर्माण व उत्पादन पर शिक्षाशास्त्र का प्रभाव” कर रहा हूँ।

इससे पहले कि मैं शिक्षाशास्त्र और उसके प्रभाव पर आऊँ, यह आवश्यक लगता है कि मैं ज्ञान, ज्ञान-निर्माण और ज्ञान के उत्पादन को अपने अर्थों में परिभाषित करूँ।

ज्ञान

मुझे लगता है कि इस प्रकार की चर्चा में दो तरह का ज्ञान महत्वपूर्ण है। एक, जिसे आम तौर पर “प्रक्रियात्मक ज्ञान” कहा जाता है या कहें कि कुछ कैसे किया जाना है का ज्ञान। उदाहरण के लिए, यह जानना कि चाय कैसे बनाई जाती है, या पेड़ पर कैसे चढ़ा जाता है, या कार कैसे चलाई जाती है, या नल लगाना और उस की मरम्मत करना, या गणित में गुणा करने की विधि, या कोई प्रयोग करना, या कोई गाड़ी ठीक करना आदि। आम तौर पर हम ऐसे ज्ञान को ‘कौशल’ कहते हैं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात “यह, सिद्धांत: जानने” की नहीं है कि “कार कैसे ठीक की जाती है” बल्कि महत्व कार को ठीक करने की असल काबिलियत का है।

मगर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ‘कैसे करना है’ को जानने के लिए सैद्धांतिक ज्ञान की जरूरत ही न हो। ‘सैद्धांतिक ज्ञान’ और ‘करने की काबिलियत’ के बीच के अन्तर को समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं। कल्पना करें भौतिक विज्ञान के एक प्रोफेसर की जो इस बात का तरीका निकाल ले कि एक छक्का लगाने के लिए क्रिकेट की गेंद पर किस तरह प्रहार करना होगा (किस कोण पर, कितने बल से, बल्ले को किस तरह लहरा कर आदि) और आपको कम्प्यूटर पर इसके अनुरूप झलक भी दिखा सके। लेकिन अगर आप उसे क्रिकेट खेलने के लिए भेज देते हैं तो बहुत मुमकिन है कि वह पहली ही गेंद पर आउट हो जाए। दूसरी ओर कल्पना कीजिए एक अच्छे बल्लेबाज की जो कई छक्के तो लगा सकता हो मगर शायद छक्का मारने की भौतिकी की व्याख्या न कर सके। भौतिकी के प्रोफेसर के पास छक्का लगाए जाने से सम्बद्ध ‘सैद्धांतिक ज्ञान’ है लेकिन वह यह कर नहीं सकता। बल्लेबाज छक्का लगा सकता है मगर उसके पास शायद भौतिकी के संदर्भ में यह ‘सैद्धांतिक ज्ञान’ न हो कि यह कैसे किया जाता है।

इस प्रकार के ज्ञान, यानी प्रक्रियात्मक ज्ञान या कौशल का हमारी पाठ्यचर्या में कोई विशेष स्थान नहीं है। लेकिन वहां इसका कुछ चित्रण तो है और वास्तविक जीवन में इसका बहुत मूल्य है। खासतौर से रोटी-रोजी के लिए तथा समाज को चलाए रखने के लिए भी।

दूसरे तरह का ज्ञान जिसे मैंने ऊपर 'सैद्धांतिक ज्ञान' के तौर पर दर्शाया है, को अक्सर 'तथ्यात्मक ज्ञान' कहा जाता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं: "वर्ष 2015 में बेंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है"¹ "1,08,39,725 का वर्गमूल 3,292 है।" "दूरी d पर स्थित m1 और m2 द्रव्यमान के दो पिण्डों के बीच गुरुत्वाकर्षण बल $F=G \times m1 \times m2/d^2$ होता है।"

इस संदर्भ में 'जानने' का अर्थ क्या है? यह समझने के लिए हमें 'जानने' के उन तीन अलग-अलग अर्थों को समझना होगा जो "वर्ष 2015 में बेंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है" जैसे कथनों में प्रायः मौजूद होते हैं।

अक्सर सुनने में आता है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था 'केवल सिद्धांत सिखाती है' और 'कौशल विकसित नहीं करती'। लेकिन मैं इस बात का बिल्कुल कायल नहीं हूँ कि हमारी शिक्षा व्यवस्था 'सिद्धांत' सिखाती है। बल्कि मेरा तो दावा है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था सिद्धांत सिखाने में पूरी तरह असफल है।

"वर्ष 2015 में बेंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है" इस कथन को कक्षा-6 के किसी भी बच्चे के लिए याद करके परीक्षा में लिख देना काफी आसान है। लेकिन क्या इस कथन को लिख सकने वाला प्रत्येक व्यक्ति 'जानता' है कि बेंगलोर की जनसंख्या कितनी है? इसे समझने के लिए चार उदाहरण लेते हैं।

उदाहरण 1: बहुत मुमकिन है कि यह वाक्य एक ऐसे व्यक्ति को बोलना सिखाया जा सके जो 'जनसंख्या', 'बेंगलोर', 'वर्ष 2015', और '1,08,39,725' को नहीं समझता हो। तो क्या यह व्यक्ति कुछ भी जानता है? मैं तो कहूंगा कि नहीं, यह कुछ नहीं जानता। 'जानने' के लिए आपको अपने दिमाग में कुछ अर्थ बनाना होता है। केवल वाक्य बोल देना ही काफी नहीं होता। आपको 'समझना' होगा कि क्या कहा जा रहा है और किसके बारे में कहा जा रहा है। स्कूलों में पढ़ने वाले हमारे कितने बच्चे होंगे जो इस अर्थ में तथ्यात्मक ज्ञान हासिल करते हैं? इस बारे में मेरा अन्दाजा आपके अन्दाजे से कुछ अलग नहीं होगा।

उदाहरण 2: अब कल्पना करें एक ऐसे व्यक्ति की जो इस कथन को बोल व लिख तो सकता हो और 'जनसंख्या', 'बेंगलोर', 'वर्ष 2015' तथा '1,08,39,725' के अर्थ भी समझता हो लेकिन असल में इसे सच न माने। अपनी सोच के मुताबिक बेंगलोर की जनसंख्या 60 लाख के आस-पास मानता हो। क्या हम कहेंगे कि वह व्यक्ति यह "जानता है कि वर्ष 2015 में बेंगलोर की जनसंख्या 1,08,39,725 है"? आम बोलचाल में हम कहते हैं कि हां, वह जानता होगा शायद। लेकिन दार्शनिक कहेंगे कि 'नहीं, वह नहीं जानता।' यह बात हमें जानने की दूसरी शर्त पर ले आती है कि कुछ जानने के लिए, उस पर विश्वास करना होता है। एक व्यक्ति अगर "सिग्रेट के सेवन से कैंसर होता है" कथन को बोल व लिख सकता है और इस कथन को समझता भी है, लेकिन उसका विश्वास है कि बीमारी तो जन्म के समय की 'ग्रह दशा' (ग्रह की स्थिति का प्रभाव) का मामला है, तो इसका अर्थ है कि वह इस बात को जानता नहीं है।

उदाहरण 3: एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो इस कथन को बोल व लिख सकता है, समझ सकता है और इस पर विश्वास भी करता है। क्या यह आवश्यक है कि वह कथन में कही गई बात को 'जानता' ही है? मैं अब भी कहूंगा नहीं। क्यों? फर्ज करें कि मैं कथन "वर्ष 2015 में बेंगलोर की जनसंख्या 1,08,39,725 है" को दोहराता हूँ और आप मुझ पर विश्वास करें या न करें, संयोग से मैं इस कथन का अर्थ भी समझता हूँ। साथ ही फर्ज करें कि इस पर मेरा विश्वास भी है (असल में ऐसा है नहीं, और मैं बताऊंगा कि क्यों नहीं है)। लेकिन अगर आप मुझसे पूछें कि मैं कैसे जानता हूँ कि बेंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है, मेरे इस विश्वास की बुनियाद क्या है, मेरे पास इसका क्या सबूत है, और मैं यदि बस इतना कह पाता हूँ कि मैंने यह इंटरनेट से गूगल के माध्यम से जाना तो क्या

आप इसे पर्याप्त आधार मानेंगे? क्या वह सब सत्य है जो गूगल बाबा कहते हैं? नहीं! चूंकि मेरे पास इस कथन पर विश्वास करने के कोई बेहतर आधार नहीं हैं। इसलिए मैं नहीं जानता। इसका अर्थ है कि कुछ जानने के लिए मेरे पास उसका कोई औचित्य या आधार भी होना चाहिए।

उदाहरण 4: अब फर्ज करें कि मैं कथन की बात को बोल व लिख सकता हूं, समझ सकता हूं, उसमें मेरा विश्वास है और उसके लिए औचित्य या आधार भी है और वह कुछ ऐसी सी बात कि मैं यह सब किसी बहुत विश्वसनीय वेबसाइट से हासिल करता हूं जो असल में भारत की जनसंख्या पर नजर रखती है और मैं सर्वेक्षण, हिसाब-किताब-गणना तथा पूर्व अन्दाजा लगाने की सांख्यिकीय तकनीकों की विधियों का भी जानकार हूं। लेकिन संयोग से कथन असल में गलत पाया जाता है। तो क्या मैं जानता हूं? कुछ दार्शनिक कहेंगे, “नहीं!” क्योंकि ज्ञान को सत्य भी होना होता है वरना औचित्यपूर्ण होने के बावजूद वह केवल आपका विश्वास भर बन कर रह जाता है। स्पष्ट है कि यह कथन गलत है। बेंगलूर जितने बड़े शहर की आबादी कभी भी इतनी सटीकता से नहीं जानी जा सकती जितनी कि यहां प्रदर्शित है। आंकड़े के अन्त में 725 को देखिए। आपके यह बोलने के दो मिनट के अन्दर-अन्दर यह संख्या बदल जाएगी या तो एक बच्चा जन्म ले चुका होगा या इतने ही समय में बेंगलूर का कोई निवासी स्वर्गवासी हो जाएगा।

यह ज्ञान की बहुत ही कड़ी परिभाषा है। आपमें से कई लोग कड़ाई की इस मांग को पूरी तरह से अनुचित मानेंगे, क्योंकि यह किसी भी चीज के बारे में ज्ञान को बहुत मुश्किल चीज बना देगी। लेकिन मेरा पक्का मानना है कि अगर बात ‘ज्ञान के उत्पादन’ की हो रही हो तो इस तरह की सख्त परिभाषा आवश्यक होगी। हम सब जानते हैं, सिद्धांत तब तक ‘सिद्धांत’ नहीं होता जब तक कि वह किसी घटना की व्याख्या, वर्णन और भविष्यवाणी न कर सके, वह घटना प्राकृतिक हो चाहे सामाजिक। जिस ज्ञान की ये विशेषताएं न हों, उसे एक जायज हद तक की सटीक व्याख्या या वर्णन या भविष्यवाणी में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। इसीलिए मेरा कहना है, हम सिद्धांत पढ़ते ही नहीं हैं; हम तो बस कथनों को पुनः याद करना भर सिखाते हैं और वह भी आधे समझे हुए, बिना विश्वास और औचित्य के, तथा अक्सर गलत और झूठे।

इस सबमें शिक्षाशास्त्र कहां आता है? लेकिन उस तक पहुंचने से पहले हमें ‘ज्ञान निर्माण’ और ‘ज्ञान के उत्पादन’ के बीच के अन्तर को समझना होगा।

ज्ञान निर्माण

जिसे पहले ज्ञान का ‘सीखना’, ‘हासिल करना’, उसे ‘प्राप्त करना’ कहा जाता था, उसे अब शिक्षाशास्त्र के रचनावादी मानक में ‘ज्ञान का निर्माण’ कहा जाता है। इस बदलाव के पीछे का विचार यह है कि ज्ञान को एक मस्तिष्क से दूसरे तक उस तरह ‘हस्तांतरित’ नहीं किया जा सकता, जैसे हम मटके से जग में या बोतल से गिलास में पानी को हस्तांतरित करते हैं। जो ज्ञान हासिल करना चाहता है उसे अपने पास पहले से मौजूद अवधारणाओं और ज्ञान के माध्यम से खुद सक्रिय भागीदारी करते हुए इसे अपने दिमाग में निर्मित पड़ता है। इस अर्थ में ज्ञान-निर्माण एक ऐसी शिक्षाशास्त्रीय शब्दावली है जो सीखने वाले की मानसिक गतिविधि को केन्द्र में ले आती है। लेकिन विद्यालय और महाविद्यालय के भीतर इस तरह जो ज्ञान निर्मित होता है वह तो लगभग वह ज्ञान होता है जो मानव जाति के पास पहले से मौजूद है। शिक्षार्थी के लिए चाहे वह नया हो लेकिन इसमें बमुश्किल ही कुछ ऐसा होता है जो मानव जाति के लिए नया हो।

ज्ञान का सृजन

मुझे ज्ञान के लिए ‘उत्पादन’ शब्द का इस्तेमाल पसन्द नहीं है। यह मुझमें आलू के चिप्स या टी.वी. सीरियल या मोबाइल फोन आदि के उत्पादन का सा एहसास जगाता है और असेम्बली लाइन का भी। इन सब उदाहरणों में प्रक्रिया जानी-पहचानी, अच्छे से स्थापित, एक खास रूटीन में होती है, और लोग इन चीजों को बिना कोई खास दिमाग लगाए बहुतायत में उत्पादित कर सकते हैं और इस प्रक्रिया में कुछ भी ऐसा नहीं बनाया जाता जो नया हो या पहले से अज्ञात हो।

इसलिए अगर हम ज्ञान के उत्पादन का अर्थ मानव की समझ की सीमाओं को बढ़ाते हुए नए ज्ञान का सृजन मानते हैं तो यह सही शब्द नहीं है। यह असल में हमें भटका देता है, उसी तरह जैसे आजकल के शैक्षिक विमर्श में अन्य कई शब्द भटकाते हैं। मैं इसे ज्ञान का सृजन कहूंगा और 'निर्माण' तथा 'सृजन' में सशर्त एक अन्तर करूंगा। निर्माण का इस्तेमाल मैं पहले से मानव की जानकारी में मौजूद ज्ञान को किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में पुनः रचे जाने के लिए करूंगा और सृजन का उपयोग किसी ऐसी बात को 'अब जान पाने' के सूचक के रूप में जो पहले मानव जाति की जानकारी में नहीं थी।

मेरी राय में जो बात इमैनुअल कान्ट वैज्ञानिक ज्ञान के संबंध में कहते हैं, 'ज्ञान की रचना' में भी ऐसा ही कुछ है:

“बुद्धि को यदि प्रकृति द्वारा सिखाया जाना है तो उसे एक हाथ में उन सिद्धांतों को रख कर प्रकृति की ओर बढ़ना होगा जिनके मुताबिक लक्षणों में अनुरूपता और सहमति को नियम माना जा सकता है और दूसरे हाथ में रखना होगा इन सिद्धांतों के अनुरूप विचारा गया परीक्षण ताकि प्रकृति द्वारा यूँ शिक्षित न किया जाए जैसे कोई शिष्य जो शिक्षक की इच्छानुसार वही बोलता है जो शिक्षक बोलना चाहता है, बल्कि उस नियुक्त न्यायाधीश की तरह शिक्षित किया गया हो जो गवाह को अपने सवालों के जवाब देने को विवश कर दे।”

कान्ट यहां यह नहीं सुझा रहे कि 'प्रकृति' ज्ञान देती है बल्कि यह कि मानव की बुद्धि द्वारा उसे अनुभव के आधार पर रूप दिया जाता है।

शिक्षाशास्त्र

अब हम शिक्षाशास्त्र पर आ सकते हैं। यह शिक्षण की कला या तरीका है। यह केवल सिखाने की कुछ विशेष तकनीक या गतिविधि या कक्षा-प्रबंधन नहीं है। यह सब शिक्षाशास्त्र में शामिल है लेकिन साथ ही यह शिक्षा के उद्देश्यों, बच्चे की सामाजिक स्थिति और उसके मस्तिष्क के बारे में भी सजग होता है। यह बच्चे को उसके मौजूदा मानसिक स्तर से उस स्वीकार्य मानवीय-ज्ञान तक ले जाने की कला है जो आप बच्चे को देना चाहते हैं। और उसकी गतिविधियां हमेशा एक ओर से तो शिक्षा के उद्देश्यों दूसरी ओर शिक्षार्थी के मस्तिष्क के साथ तालमेल रखती हैं।

इस अर्थ में शिक्षाशास्त्र 'ज्ञान के निर्माण' से सम्बद्ध है न कि 'ज्ञान सृजन' से। किन्तु ज्ञान सृजन की क्षमताओं पर भी इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षाशास्त्र के लिहाज से शिक्षण के खराब तरीकों से सीखे हुए व्यक्ति के मुकाबले बेहतर शिक्षण तरीकों से सीखे हुए व्यक्ति में 'नया ज्ञान सृजन' कर पाने की गुंजाइश अधिक होती है।

कान्ट के एक और मशहूर कथन को लेते हैं:

“अंतरानुभूति के बिना विचार खाली होते हैं, अवधारणाओं के बिना अंतरानुभूति अन्धी।” यानी विचारों और ऐन्द्रीय अनुभूतियों का अवधारणाओं के माध्यम से मेल होना होगा। जो विचार हमारे मस्तिष्क में कोई अर्थ न जगाते हों, वे 'खाली' हैं, किसी काम के नहीं हैं। और ऐन्द्रीय अनुभूतियों के माध्यम से जन्मे, विचारों से असंबद्ध बिम्ब अंधे हैं, उनसे हमें कोई रोशनी नहीं मिलती। इसलिए प्रत्येक विचार को कोई अर्थ जगाना होगा और प्रत्येक बिम्ब को किसी विचार के साथ संबद्ध होना होगा और यही ज्ञान-निर्माण का आशय है।

तो किस तरह का शिक्षाशास्त्र शिक्षण में इस प्रकार सहायक हो सकता है कि शिक्षार्थी विद्यालय, महाविद्यालय में रहते हुए ज्ञान निर्मित कर सकें और वयस्क होने पर उसका सृजन कर सकें?

मुझे अपनी बात संक्षेप में करनी है इसलिए मैं अब शिक्षा के दो महान दार्शनिकों, जॉन ड्यूई तथा इसराइल शेफ़्टर से कुछ बातें उधार लूंगा। ड्यूई 1902 में प्रकाशित अपनी छोटी सी मशहूर पुस्तक “द चाइल्ड एण्ड द करिकुलम” में अपने समय की परंपरागत शिक्षा और बाल-केन्द्रित शिक्षा के बीच एक समझौता प्रस्तावित करते हैं। वे समस्या

इस बात में देखते हैं कि दोनों ओर के लोग कट्टर दृष्टिकोण रखते हैं। बाल-केन्द्रित पद्धति के लोग यह मानकर चलते हैं कि बच्चे की रुचियां और सामर्थ्य ही अकेले मार्गदर्शक हैं; ये लोग ज्ञान की मानवीय परम्पराओं को अनदेखा करते हैं। दूसरी ओर परंपरावादियों का मानना है कि सारा महत्व पाठ्यक्रम में संहिताबद्ध ज्ञान का है लेकिन वे बच्चे की रुचियों और सामर्थ्य को अनदेखा करते हैं। मैं इस छोटी पुस्तक से तीन विचार अपने वर्तमान उद्देश्यों के लिए उठाता हूं:

ड्यूई “पाठ्यचर्या के मनोवैज्ञानीकरण” का सुझाव देते हैं। उनके कहने का अर्थ है कि बच्चे के मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक बुनावट को; उसकी रुचियों, समझने के उसके तरीकों, उसके मौजूदा अवधारणात्मक रंग-पटल और उस के अनुभव आदि को ध्यान में रखते हुए समझा जाए। दूसरी बात उस संहिताबद्ध मानव-ज्ञान को देखने की है जो आप चाहते हैं कि वह हासिल करे। साथ ही, बच्चे के मस्तिष्क और उस ज्ञान के बीच के संबंध को समझने की बात भी है। तीसरा, एक ऐसे पथ को बनाने की बात है जहां से बच्चा उस ज्ञान तक पहुंच सके जो आप चाहते हैं कि वह हासिल करे। इसका सार-संक्षेप यह हो सकता है:

1. बच्चा जहां है, वहां से शुरू करें।
2. पाठ्यचर्या का मनोवैज्ञानीकरण करें।
3. उद्देश्य मौजूदा संहिताबद्ध मानव-ज्ञान को समझने का हो।

अब हम इजरायल शेफ्लर पर आते हैं और उनके निबंध “फिलोसोफिकल मॉडल्स ऑफ टीचिंग” से तीन मुख्य बातें लेते हैं। इस निबंध में शेफ्लर की दलील सीखने वाले की समझ और स्वायत्तता को ले कर है। अपनी मौजूदा चर्चा के लिए हम उनसे तीन संकेत ले सकते हैं:

1. अवधारणाओं के साथ सीखना सुनिश्चित हो; यानी बच्चे के लिए स्पष्ट बोधात्मक अर्थ निकलें।
2. बच्चे को सिखाएं कि वह सिखाई गई हर बात के औचित्य की मांग करे और शिक्षक समेत हर प्रकार के अधिकारी से सवाल करे।
3. बच्चा अपनी तार्किक जांच पर खरा उतरने वाली बात को ही स्वीकारे भले ही वह कितनी ही अपरिपक्व क्यों न हो।

मुझे एहसास है कि ये किसी भी शिक्षक के लिए पूरी की जाने वाली मुश्किल शर्तें हैं। लेकिन ज्ञान का ‘सृजन’ भी आसान तो नहीं है। पीतल और सोना, दोनों ही किसी अनुभवहीन नजर को एक से दिखाई देते हैं। इसके बावजूद, आपको पीतल की कीमत में सोना नहीं मिलेगा। आप सोना चाहते हैं तो आपको उसकी कीमत चुकानी होगी या फिर पीतल पर ही गुजारा करना होगा। यहां भी वही बात है अगर हम ज्ञान का ‘सृजन’ चाहते हैं, तो हमें उपयुक्त शिक्षाशास्त्र की आवश्यकता होगी या फिर ‘किसी ऐसी चीज को उगलने से सन्तुष्ट होना होगा जो दिखाई तो ज्ञान जैसी देती है’ मगर है काफी घटिया।

संभव है कि ऐसा शिक्षाशास्त्र ज्ञान का सृजन करने में सहायक औजार प्रदान करेगा। लेकिन इसकी कोई गारण्टी नहीं है और इसीलिए शिक्षाशास्त्र निश्चित विज्ञान की बजाय कला अधिक है और यही कारण है कि शिक्षाशास्त्रीय बेहतरी के लिए अपनाई जाने वाली प्रबंधकीय पद्धतियां कम फलदाई रहती हैं। किन्तु किसी प्रकार की सुनिश्चित पद्धति का अभाव होने के बावजूद यह इस लायक है कि इसके लिए कोशिश की जाती रहनी चाहिए। ◆

(यह लेख 23 मई, 2015 को बैंगलोर में अखिल भारतीय जन विज्ञान कांग्रेस में दिए गए व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तरण है)

1. <http://www.indiaonlinepages.com/population/bangalore-population.html>

लेखक परिचय: रोहित धनकर अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य एवं अकादमिक सलाहकार हैं।

भाषान्तर: रमणीक मोहन